SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

संथाली लोकसंगीत के परिपेक्ष्य में वाद्ययंत्र का महत्व

रजनी कुमारी, शोधार्थी, **अशोक कुमार मंडल,** Ph. D., इतिहास विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Authors
रजनी कुमारी, शोधार्थी
अशोक कुमार मंडल, Ph. D.
E-mail : rajnik584@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 19/09/2024
Revised on : 21/11/2024
Accepted on : 30/11/2024
Overall Similarity : 00% on 22/11/2024

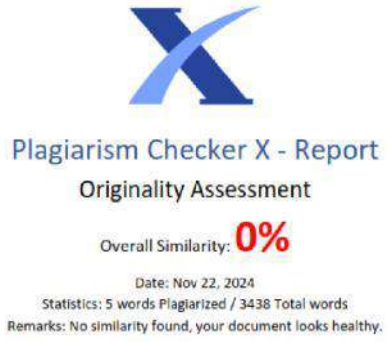

शोध सार

संथाली समाज में लोकसंगीत का बहुत अधिक महत्व है और संथाल समाज से गहरा संबंध है क्योंकि संथाल संगीत और नृत्य के बड़े प्रेमी होते हैं। संथाली लोकसंगीत का निर्माण युग और समाज के ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर ही हुआ है। इतिहास संबंधी प्राचीन सामग्री लोकसंगीत में मिलता है। लोकसंगीत की सहायता से इतिहास के तात्कालिक स्थिती के दर्शन होते हैं। अतः संथाली लोकसंगीत अनेक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है और कोई भी लोकसंगीत बिना वाद्ययंत्रो के अधुरा है अतः संथालो के जीवन में वाद्ययंत्रों का महत्व भी बहुत बढ़ जाता है। इसके साथ ही जब लोकसंगीत का निर्माण वाद्ययंत्रों की सहायता से किया जाता है तो वह लम्बे समय तक स्मरणशील रहने के कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानतरित होते रहते है। बंसी, ढोल, नगाड़ा, केन्दरा इत्यादि इनके प्रमुख वाधयंत्र हैं। जन्म हो या विवाह, पर्व त्योहार हो या कोई अन्य उत्सव। संथाल लोकसंगीत में विभोर हो जाते हैं। इनके लोकसंगीत मधुर व कर्णप्रिय होते हैं। नगाड़े के थाप पर इनके लोक नृत्य संगीत मधुरिमा बिखेरते हैं।

मुख्य शब्द

संथाली, लोगगीत, वाद्ययंत्र, संगीत.

संथाली संस्कृति के सभी पक्ष अपने में ही बहुत विशिष्टता बनाए हुए हैं। अगर फिर भी देखा जाए तो संथाली संस्कृति के सबसे वृहद तथा सुंदर पक्ष कोई है तो वह है "संगीत" जिसमें नर्त्तन, गायन तथा वादन भी सम्मिलित है। ऐसा कई बार सुनने में आया कि इन संथालों के शिशु के धरती पर आते ही विशेषकर झारखंड क्षेत्र में उनका स्वागत कांस्य की थाल या घंटा बजाकर किया जाता है। इस प्रकार घंटा की ध्वनि को बजाने का बस यही कारण होता है कि शिशु की श्रवण शक्ति को

जागृत किया जाए। घंटे की ध्वनि को सुनते ही वह शिशु रूदनगान करना प्रारंभ कर देता है जिसमें पूरे गाँव या नगर को सूचना प्राप्त हो जाती है कि उनके घर पर अखरा का एक और भावी कलाकार का आगमन हो चुका है। पूरे घर–परिवार का माहौल खुशनुमा हो जाता है, सभी खुशी–खुशी नाचने लगते हैं।

झारखंड क्षेत्र में प्रायः संथालों के बीच यह कहावत बहुत पुराने समय से सुनने को मिलता है कि "सेनगे सुसुन काजिगे दुरड़" इसका अर्थ यह होता है कि चलना ही नृत्य है और बोलना ही गीत है और जब गीत और नृत्य चल रहा हो तो भला वादन कैसे पीछे रह सकता है। शिशु को नहलाने के क्रम में बच्चे को माँ उछाल–उछाल कर नहलाती है तो वहीं साथ ही साथ अपने मुँह से ताल देती जाती है। इसके बाद उसे तेल से मालिश करवाने या करने के क्रम में वह उसके वक्ष और नितम्ब पर हाथों की ऐसी थाप देती है कि वह वाद्ययंत्र के कमी को मानो पूरा कर देती है।

यह तो जगजाहिर है कि धरती के सबसे पुराने भूखंड के रूप में हम झारखंड का नाम सबसे पहले लेते हैं, विशेषकर आदिमानव की निवासस्थली या आदिवासियों के भी प्रारंभिक आवास के रूप में इस भूखंड में कई पुरावशेष प्राप्त हुए हैं जो आदि मानव तथा आदिममानव से जुड़े प्रतीत होते हैं। झारखंड की संस्कृति तो बहुत पुरानी है जिसमें आदिम संस्कृति की तो झलक दिखती है। झारखंड का प्रदेश जंगलो से पूरा आवृत प्रदेश था जिसमें आदिमानव, आदिम मानव क्रमशः आदिवासी रूप में विकसित होता गया। इनके विकास के साथ ही भाषा–संस्कृति का भी निर्माण होने लगा। वह अपने जीवन के घोर संघर्ष में भी आनंद के रूप में संगीत का विकास कर दिया तथा उनका संघर्ष श्रम परिहार के लिए चलता ही रहा।

झारखंड के सदान आदिवासी मुख्य रूप से जंगलों के बीच बसाए गए थे। उनके खेत खलिहान भी वहीं रहते थे, फिर भी हिंसक तथा जंगली जानवरों का भय तो उनमें व्याप्त रहता ही था। इन हिंसक पशुओं से ही बचने के लिए उन्होने सबसे पहले तीव्र ध्वनि उत्पन्न करने वाले बाजे बनाए जिसमें नगाड़ा पहला था, जिसकी तेज डम–डम की आवाज सुनकर भयानक पशु भी डरने लगे। इसके बाद लगातार ढांक, ढोल, ढ़ोलक, करह, चोढ़, चोढी, रबका, भेइर, नरसिंघा टमक नामक वाद्ययंत्रों को इन्होने बना डाला। इनके आवाज इतनी तेज और बुलंद होती थी कि पूरा जंगल ही दहलने लगा था। इनकी आवाज मात्र से पशु भी आतंकित हो गए तथा मानव प्रसन्न रहने लगे। इन बाजों से जो ध्वनि के रूप में लयवद्ध क्रमवद्ध ध्वनि निकलती वह कानों को सुखद अनुभव देती थी और इसी प्रकार से इन वाद्ययंत्रों का प्रयोग संथाल अपनी संगीत में करने लगे। गाँवो के बीचों बीच अखरा सजने लगा था। आदिवासी सदानों ने रात्रि की भयंकरता से बचने के लिए तथा पशुओं के आक्रमण से बचने के लिए जो यह हल बाजों के रूप में निकाला था, वह आनंद का स्रोत प्रवाहित कर रहा था। वे अपने पूरे दिन में किए कठिन श्रम की थकावट को दूर कर रात्रि तक आधी पहर तक नृत्य, गान तथा वादन करते थे।

संथालों ने ही इस बात की सत्यता को स्पष्ट किया कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। इसकी पुष्टि केवल इस बात से ही जाती है कि उन्होंने वाद्ययंत्रों का आरंभ प्रकृति के अनुकरण पर समरूप ध्वनियों की खोज में ही हुआ। उन्होंने वादलों के गर्जन, गुड़गड़ाने, पहाड़ों से पत्थरों पर लुढ़कने का शोर, पशु–पक्षियों की कठोर–कोमल ध्वनि, नदियों तथा झरनों का निरंतर नगाड़े जैसी ध्वनि निकलना साथ ही साथ छल–छल कर नदियों के प्रवाह, आँधी–तूफान वायु के शोर, सन–सन हवा का बहना इन्हीं प्राकृतिक ध्वनियों से प्रेरित हो उन्होंने वाद्ययंत्रों को बनाने की युक्ति सुची। तीव्र वाद्ययंत्र और रात–रात भर संगीत ही मूल रूप से उनके आत्मारक्षा का सर्वश्रेष्ठ उपाय था।

यह तो ज्ञात है कि झारखंड में पाए जाने वाले वाद्ययंत्र बहुत प्राचीन है जो ही आगे चलकर शास्त्रीय वाद्य यंत्रों के रूप में जाने गए। झारखंड के संगीत में 'मांदर, नगाड़े तथा बांसुरी जैसे वाद्य यंत्रों को गीतों के प्राण कहकर बुलाया है। संगीत के प्रधान अंग ताल होते है जिसके ही आधार पर गीतों के राग और नृत्य की मुद्राएं आधारित होती है।

झारखंड के वाद्ययंत्रों जो विशेषकर संथालों द्वारा प्रयोग की जाती थी, उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में बाँटा

जाता है जो निम्नलिखित हैः

1. **तंत्र, तंत्री या तत वाद्ययंत्रः** इस प्रकार के वाद्ययत्रों में रेशम की डोरी, ताँत, लोहे, ताँबे या पीतल की धातु की तार बँधे रहते हैं। इस प्रकार के वाद्य यंत्रों को तारों की ऊँगली, हाथी दाँत, स्ट्राइकर या लकड़ी आदि की सहायता से बजाया जाता है। ऐसे वाद्ययंत्र में तारों के नीचे चमड़े मढ़े होते है और तारों को घोडेघ के बालों से बने धनुष से रेत कर बजाया जाता है। इन वाद्य यंत्रों से कुछ स्वर पूरक ध्वनि तो कुछ से गीत बजाए जाते हैं। इन वाद्ययत्रों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित वाद्ययंत्र आते हैंः

   क) **टोहिलाः** इस प्रकार के वाद्ययंत्र कोमल ध्वनि के होती है जिसमें मधुर स्वर में गीत बजाए जाते है जो वर्तमान समय में लुप्त होते जा रहे है। इसे चार फीट के खोखले बाँस की लाठी पर बनाया जाता है। इसके मोटे भाग पर सूखे कद्दू के खोल से आधे भाग को काट कर कस दिया जाता है। लाठी के दूसरे भाग पर घोडे या किसी भी पशु–पक्षी की आकृति बना कर जड़ दिया दिया जाता है। इसके उपरी भाग से रेशम की डोरी लौकी के आगे तीन स्थान पर एक–एक इंच की दूरी पर तीन–चार बार लपेट कर बाँध दिया जाता है। इसे ही हल्का सिसका कर रेशम की डोरी को ताना या ढ़ीला कर बजाए जाने की कला होती है। इसी क्रम में केंदरा, केदरी बनम, मुआड़, ओरमुआर हो बुआड़, बनम, सोइखो, गोपीयंत्र नामक वाद्ययंत्र भी आते है जो लगभग एक ही आकृति के बने होते है, फिर भी उन्हें बजाने की कला अलग–अलग होती है।

   ख) **एकताराः** इस वाद्ययंत्र की बनावट भी होटिला के तरह ही होती है। यह भी गोल कद्दू या कोहड़े के सूखे पके खोल पर एक–चार पाँच फीट लम्बे खोखले बाँस को केंदरी बनम की तरह ही तैयार किया जाता है। खोल का ऊपरी भाग खुला होता है जिसे चमड़े से मढ़ दिया जाता है। इसी चमड़े के कुछ नीचे वाले भाग से डंडा आर–आर हुआ होता है। इसके खोल के निचले भाग में डंडा को दो–तीन इंच पर निकला रहता है। इसी पर दो–तीन घूँघरू भी बाँध दिया जाता है जिस पर तार मढ़ कर चमड़े के ऊपर से पार करते हुए डंडे के ऊपर लगी खूंटी में बाँध दिया जाता है। इसी प्रकार चमडे के ऊपर से तार को उठाने के लिए बॉस की एक घोड़ी लगा दी जाती है। खूंटी से ही तार को ढ़ीला या कसकर रखा जाता है और फिर उसे बजाया जाता है। इसी प्रकार की बनावट के साथ तीनतारा सारंगी, ईशराज, तथा सांरगी भी बने होता है। इनके केवल लंबाई तथा बनावट में अंतर होता है, लेकिन अधिकांश वाद्ययंत्रों को लकड़ी, तार, घूँघरू आदि की मदद से बनाने की कला तथा पुनः उसे अपने मनोरंजन के लिए उपयोग करना यह अद्भुत कला प्रारंभ से ही केवल संथालों के पास थी।

2. **सेखर या सुषिर वाद्य यंत्रः** इस प्रकार के वाद्ययंत्रो को फूँक कर बजाया जाता है जिससे स्वर पूरक ध्वनि तथा कुछ से संगीत निकलते हैं। इनसे गीत बजाए जाते है तथा और दूसरे सुषिर वाद्ययंत्रों में भेइर, नरसिंधा, शघ, संखवा, कुडुदुतु आदि से मात्र ध्वनि नकलते है। इस प्रकार के वाद्ययंत्रों में प्रमुख रूप से बॉसुरी, मोहनबॉसी, जोड़ा मुरली, मुरली, तिरियो शहनाई, तुमड़ी बीन, भेइर, नरसिंधा, शंखवा शंख आदि आते हैं। इन वाद्ययंत्रों की भी बनावट अलग–अलग होती है। बनाने का तरीका लगभग एक समान ही होती है।

   क) **बाँसुरीः** झारखंड में सर्वप्रथम आवष्किृत वाद्ययंत्र के रूप में लोकप्रिय होने वाले वाद्ययंत्रों में बाँसुरी है। संथाल वर्ग में इसका प्रयोग चरवाहों द्वारा की जाती रही है, जो अपने पशु को हॉकने के लिए मधुर लाठी का प्रयोग इस बाँसुरी के रूप में करते है। यह वाद्ययंत्र सबसे सहज, आसान, तथा सर्वत्र उपलब्ध होने वाला वाद्ययंत्र है। इसे बनाने के लिए एक खोखले बांस के 6 इंच से लेकर तीन फीट लंबे पतले मोटे भाग से बनते है। इसमें एक किनारे गाँठ रह जाती है। खोखले लम्बे गाँठ से निचले भाग में एक फूँकने के लिए छिद्र होता है, उससे कुछ हट कर छह और छिद्र थोड़ा अलग साइज के छिद्र एक–दो अँगुली की दूरी पर बने होते है, जिन पर दोनो हाथों के बीच की तीन–तीन अँगुलियां बैठती है। ऊपर के छेद पर होठों को रख फूँक मार कर आवश्यकतानुसार नीचे की छः अँगुलियों को खोलकर बंद कर बजाया जाता है जिससे मधुर गीत बजते है। कुछ बाँसुरी में गाँठ नहीं होता तो वहां उस स्थान पर कार्क लगा दिया जाता है। छेद लोहे के मोटे पतले तारों को गर्म कर किया जाता है।

ख) **जोड़ा मुरली**: इस प्रकार के वाद्ययंत्र दो मुरली को बाँध कर बनाया जाता है, इनके फूँकने वाले भाग को ही एक साथ सटा दिया जाता है, जिस कारण दो मुरली की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस प्रकार की मुरलियों में केवल चार–चार छेद दोनों हाथों की चार–चार अँगुलियों के लिए होती है। ऊपर वाला चौकोर छिद्र मुरली की तरह ही बनावट के होते है।

3. **धन या वित**: इस प्रकार के वाद्ययंत्र को ही झारखंड का प्रथम वाद्ययंत्र माना जाता है। इस प्रकार के वाद्ययंत्र को पीट कर, रगड़ कर या हिला कर बजाया जाता है। इस प्रकार के यंत्रों में नगाड़ा, मांदर, ढांक, ढ़ोल, ढ़ोलक, ढ़ोलकी, टमक, करह, रबका, चोड़चोड़ी, डमरू, करताल, झॉझ, ठेचका, घंट, घंटी, रेगड़ा, घूघरू, रामकेठी सकाए, आदि आते हैं। इस प्रकार के वाद्ययंत्रों का प्रयोग संथाली वर्ग समुदाय मुख्य रूप से शुभकार्य, युद्ध, शिकार, नृत्य, मुनादी, पीटने या अखरा में बैठक बुलाने में विशेष रूप से उपयोग करते हैं। इस प्रकार के वाद्ययंत्रों से तीव्र और समूह की आवाज बम बाडिंग जैसे ध्वनि निकलती है। जानवरों को इस प्रकार की आवाज से डर लगती है।

   क) **घंटी**: यह पतले लोहे का बना गोलाकार तथा चपटी आकृति का होता है जिसे पतली लकड़ी से बजाया जाता है। इसकी आवाज टिंग–टिंग–टाड–टाड जैसे निकलती है।

   ख) **सखवा**: संथाली भाषा में सखवा को "साकवा" भी कहा जाता है जिसे बैल, भैस या बकरी के सींग से बनाया जाता है। सींग के बीचों–बीच एक छेद बनाया जाता है जिसे फूँकने से तीव्र ध्वनि के साथ ही तू–तू–तूतू की आवाज निकलती है। इसका प्रयोग शिकार के साथ पर किया जाता है।

   ग) **करताल**: यह पतला पीतल का बना वाद्ययंत्र होता है जिसे दोनो हाथों से बजाया जाता है। यह मंजीरा का ही छोटा रूप होता है जिसे लकड़ी के दो कलात्मक फ्रेम में, दो भाग में, दो कतारों में छोटे–छोटे छल्ले लकड़ी को काट कर निकाले गए भाग में जड़े जाते है। यह ठेचका जैसा कार्य करता है।

उपरोक्त वाद्ययंत्रों को हमने संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे यह तो समझ आ ही गया जितने वाद्ययंत्रों का संक्षिप्त परिचय या नाम दिया जाता है उसके अतिरिक्त भी कई अन्य प्रकार के वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता था। अब के समय में हमें कहीं–कहीं कुछ अवशेष सुनने को मिल भी जाए परंतु उनका उपयोग अब प्रायः समाप्त या यूं कहे तो लुप्त ही हो गया है। किसी–किसी स्थानों पर तो इनके नाम, प्रयोग तथा बनावट की जानकारी भी धूल खा रही है पर यह तो वास्तविकता थी कि इन वाद्ययंत्रों को बनाने में वे प्राकृतिक संसाधनों का ही उपयोग करते थे। वे अपनी रूचि तथा ज्ञान के अनुरूप अलग–अलग प्रकार के वाद्ययंत्रों का निर्माण कर उपयोग कर लेते थे। यह कहना उचित ही होगा कि शायद इन्हीं आदिम झारखंडी वाद्ययंत्रों के आधुनिकीकरण तथा संस्कारित तथा विस्तारित होने से ही वर्तमान समय के शास्त्रीय वाद्ययंत्रों का निर्माण संभव हो सका है। वर्तमान समय में प्रयोग होने वाले शास्त्रीय वाद्ययंत्रों को प्राचीन वाद्ययंत्रों का पूर्व रूप ही मान सकते है जो काफी लम्बे समय से मानव जीवन को आनन्द के क्षणों को संगीत के माध्यम से मधुर बनाने में अपना अभूतपूर्व योगदान देते आ रहे है।

वर्तमान समय में हमारे पास विभिन्न–विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों की भरमार है जिसमें कुछ ऐसे वाद्ययंत्र भी है जिन्हें हम अपने हाथों से बजाते है, तो कुछ को मुँह से बजाते हैं। हाथ से बजाने वाले वाद्ययंत्रों को बजाने में तथा सीखने में भी ज्यादा श्रम नहीं लगता है, बल्कि मुँह से बजाने वाले वाद्ययंत्रों को बजाने तथा सीखने के लिए भी अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है और इसके साथ ही साथ शक्ति, साधन व अनुशासन भी जरूरी होते है। संथाल वर्ग अपने वाद्ययंत्रों का निर्माण खुद ही करते थे, जो प्रकृति प्रदत्त वस्तुएं जैसे–पेड़, बांस, लकड़ी, बाल, चमड़ा या जानवरों के सींग होते थे। उन्होंने अपने आत्मरक्षा का सर्वश्रेष्ठ उपाय इस संगीत तथा तीव्र वाद्ययंत्रों को चुना था। इस उपाय से किसी भी प्रकार से जंगली पशुओं का विनाश भी नहीं होता था और उसे स्वयं से दूर भी रखा जाता था। कुछ विद्धानों का तो यह मत भी है। इस प्रकार जंगली जानवरो को अपने से दूर रखने के लिए वादन, नर्त्तन तथा गायन से भी अधिक श्रेष्ठ उपाय क्या हो सकता है? जंगल के इन पशु–पक्षी को आदिवासी सदानो ने अपने कुल गोत्रो में सम्मिलित कर लिया था जिससे उनका अपने कुल गोत्र का वध नहीं होता था। संथालों ने कठोर तीव्र वाद्ययंत्रों के निर्माण के बाद बहुत कुछ सीखने के उपरांत कोमल ध्वनि के भी वाद्ययंत्र बनाने लगे। उनके

प्रमुख वाद्ययंत्रों का पूर्व में भी उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें प्रमुख रूप से मांदर, बाँसुरी, शहनाई, मुरली, घंट, ऐकोए, हेचका, सारंगी रेगड़ा, घूँघरू आदि बनाए गए जिनका प्रयोग वे ऋतु के परिवर्त्तन के साथ–साथ मनाए जाने वाले पर्व त्योहारों तथा उत्सवों में करने लगे।

पीढ़ी दर पीढ़ी संथालों द्वारा इन वाद्ययंत्रों को बनाने में अलग–अलग वर्ग तथा पेशे से जुड़े लोगों ने भी अपनी कला का प्रदर्शन करना प्रारंभ कर दिया था। इसे हम इस उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं कि एक नगाड़ा को बनाने में उसका खोल बनाने का कार्य एक लुहार करता है, नगाड़ा को मढ़ने के लिए जिस चमड़ा का प्रयोग होता हे, उसे मोची तैयार करता है, तानने या बाँधने के लिए जिस रस्सी का उपयोग होता है वह ताँती देता है। नगाड़े के बीच में चमड़े पर पीटने वाली जगह पर महली लेप लगाता है। चमड़े को नर्म रखने के लिए तेली तेल देता है। बढ़ई पीटने की खाड़ी बना देता है तथा उसे अंतिम रूप घासी (नायक) देता है। संथाल समुदाय के साथ–साथ घासी समुदाय भी इसे बजाने के समय चाहे वह खुशी या गम हो बहुत उत्साहित रहते है। यह कहना आश्चर्यजनक होगा कि कौन सा वाद्ययंत्र किसे अपना बना लेगा। भारी भरकम नगाड़ा, ढांक, द्वारा बनजे पर सभी आनंदित हो नृत्य में लीन हो जाते हैं। मांदर के खोल को पकाने का कार्य कुम्हार द्वारा किया जाता है। संथालों के इन वाद्ययंत्रों ने कलात्मकता को नयी पहचान दिलायी है। इन वाद्ययंत्रों से ही स्वर कठोर तथा मधुर होने का पता चलता है, नृत्य का एक अलग माहौल बना रहता है। यह अखाड़ो को जागृत करने, रसिकों को आमंत्रित कर नृत्य–गीत के लिए विवश करने के कार्य को भी सरलता से वाद्ययंत्रों की सहायता से करते हैं। संथाल हो या कोई अन्य आदिवासी समाज सबों ने भले ही अलग–अलग वाद्ययंत्रों के प्रयोग को किया है, सबकी बनावट में अंतर भी सहजता से देखा तो जा सकता है फिर भी उनके जीवन में इन वाद्ययंत्रों की महत्ता को देखते हुए कुछ लेखकों ने संगीत के पक्ष से देखते हुए इन समुदायों के तथा संथालों के प्रमुख निवास स्थन झारखंड के प्रदेशों को मांदर देश कहकर पुकारा है।

जहां एक ओर अन्य राज्यों में पशु चारण के समय हाथो में लाठी, ब्रज में सीटी दिखायी देने के प्रमाण हैं, वहीं झारखंडियों तथा संथालियों के चरवाहों के हाथों में हमें बॉसुरी, मुरली, तिरियों, मोहनबॉसी देखने को मिलती है। वे इन्हीं वाद्ययंत्रों से अपने पशुओं को संचालित करने का कार्य करते है, वहीं पशु भी इन मधुर वाद्ययंत्रों की ध्वनि से मंत्रमुग्ध होकर चरते है। कहीं न कहीं तो ये वाद्ययंत्र एकांत के साथी के क्षण के रूप में भी आनंदित करते हैं। संथालों द्वारा इन वाद्ययंत्रों का उपयोग शिकार खेलने, अखाड़ों में नृत्य संगीत के लिए होने के साथ–साथ घरों के आँगन को भी मधुरमय बनाने में किया जाता रहा है। शायद यही संथालों के मित्र भी रहे हो जो आनंद और गम दोनो परिस्थितियों में उनका साथ देता आया हो। लगभग झारखंड के संथालों तथा अन्य आदिवासी समुदायों में इस प्रकार के अलग अलग कई वाद्ययंत्र हमें मिल सकते हैं या इन वाद्ययंत्रों से जुड़ी कई लाभकारी ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है।

निष्कर्ष

अंततः यह वाद्ययंत्र झारखंड तथा संथालों के लिए बहुत ही प्राचीन रहा है जिसका ही संस्कारित रूप या कहें तो परिष्कृत रूप ही शास्त्रीय वाद्य के रूप में हमारे समक्ष आया। माना जाता है कि कृष्ण के हाथो की बाँसुरी–मुरली हो सा राम के हाथों का धनुषवाण सभी इसी छोटानागपुर झारखंड के क्षेत्र में रहने वाले आदिम मानवों से ही प्रेरित होकर बनाया गया हो या वहीं से आई हुई प्रतीत होती हे। इनके बिना तो झारखंड का संगीत ही अधूरा है। संथाल वर्ग में इन वाद्ययंत्रों की शिक्षा अखाड़े में दिये जाने के ही प्रमाण मिलते है। उनके लिए अखरा ही गुरू और गुरूकुल दोनो होते हैं। वाद्ययंत्रों के वादन से ही उनकी नृत्य की मुद्राएं भी संचालित होती है। इस क्षेत्र की स्त्रियाँ इन वाद्ययंत्रों का प्रयोग लगभग न के बराबर ही करती है, पर कभी–कभी घूँघरू, ठेचका, करताल, जैसे, वाद्ययंत्रों को नृत्य के साथ बजा लेती हैं। वैसे तो उनके वाद्ययंत्र भारी होते है, जिस कारण उन्हें बजाने की अनुमति उन्हें नहीं होती है जिसमें नगाड़े, ढांक, ढ़ोल आदि आते हैं, परंतु यह पाया गया कि बाँसुरी, मुरली, शहनाई, बनम, केंदरा, टुहिला जैसे कुछ हल्के वाद्ययंत्रों को भी बजाना इन महिलाओं के लिए संथाल समुदाय में वर्जित किया गया है। इतना होने के बाद भी वाद्य संगीत इन संथाल समुदायों का प्रधान तथा महत्वपूर्ण अंग है जिसके ही ताल पर गीतों के राग एवं नृत्य की मुद्राएं भी आधारित होती है।

हम इस लेख के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि संथालों का प्राचीन जीवन हो या वर्त्तमान समय का जीवन पद्धति सभी पक्षों में उनका जीवन संगीत के बिना अधूरा है। उनका संगीत में आकर्षण वर्तमान समय में भी कम नहीं हुआ है। यही मूल रूप से उनके जीवन के लिए अमृततुल्य है जिससे उन्हें आनंद की अनुभूति होती है।

संदर्भ सूची

1. प्रसाद, ओंकार (1985) *संथाल म्यूजिक,* इंटर–इंडिया पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, पृ. 108–111।
2. हेम्ब्रम, रतन (2005) *संथाली लोकगीतों में साहित्य और संस्कृति,* माधा प्रकाशन, जमशेदपुर, पृ. 202।
3. प्रसाद, राम रतन (2014) *आदिवासी लोकगीतों की संस्कृति,* अनंत प्रकाशन, दिल्ली, पृ–97।
4. चौधरी, बी.ए. (1987) *दा संथाल्स रिलिजन एण्ड रिचुवल्स,* आशीष पब्लिशिंग हाउस, न्यू दिल्ली।
5. रणेन्द्र (2008) *झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया,* खंड–IV, मांदर की धमक और गुलईची की खुशबू, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008
6. शर्मा, राघव शरण एवं राय, विक्रमादित्य (2014) *झारखंड दर्पण,* मनोहर, नयी दिल्ली।
7. शुक्ला, हीरालाल (2012) *आदिवासी संस्कृति, संगीत एवं नृत्य,* बी. आर. रैहथमस, दिल्ली।
8. गौंझू, गिरिधारी राम (2015) *झारखंड का लोकसंगीत,* गिरिराज झारखंड झरोखा, राँची।
9. वीरोत्तम, बी (2013) *झारखंडः इतिहास एवं संस्कृति,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ. 474–475।

****